In The Field Of Theatre

Bound copy

Second Phase of Women Directors

CCRT/jf-3/67/2015

Submitted By

Vandana Vashisht

आधुनिक भारतीय रंगमंच में महिला निर्देशकों की उपस्थिति

सिंधु सभ्यता में नृत्य भंगिमा वाली मूर्ति मिलती है। भारतीय मिथकों और धर्मग्रंथों में रम्भा, मेनका और उर्वशी जैसी अप्सराओं का जिक्र विभिन्न स्थानों पर विभिन्न रूपों में मिलता है। इन अप्सराओं का मूल कर्म देवताओं का मनोरंजन करना था। ये अप्सराएं सुंदर थीं और कला निपुण थीं। अपनी सुंदरता और कला के बदल पर किसी को भी अपने वश में कर लेना इनके दाएं हाथ का खेल था। इनके इसी कौशल की वजह से कई बार इनका प्रयोग राजनीतिक उद्देश्य और अपने वर्चश्व को कायम रखने के लिए भी किया गया। इसलिए देवलोक से लेकर पृथ्वी लोक तक इन अप्सराओं के कई किस्से–कहानियां भारतीय मिथकों में देखने–सुनने को मिलती हैं। देव लोक और मृत्यु लोक की इनसे जुड़ी कहानियां आज भी परम्परागत रूप से भारतीय कला और साहित्य से जुड़ी हैं। कालिदास के मशहूर नाटक अभिज्ञान शाकुन्तलम् की नायिका शकुन्तला, मेनका और विश्वामित्र की पुत्री है। मेनका स्वर्गलोक की अप्सरा थी, जिसका प्रयोग इंद्र ने विश्वामित्र के बढ़ते बल को कम करने के लिए किया था। दूसरे अर्थ में इंद्र ने मेनका को डिप्लोमेटिक प्रयोग अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए किया। यहां मेनका अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, बल्कि इंद्र के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक भूमिका निभाती है, या यूं कहें उपयोग में लाई जाती है। कालिदास के दूसरे नाटक विक्रमोर्वशियम की नायिका अप्सरा है, देवलोक की है। वहीं भास के नाटक मृच्छकटिकम् की नायिका वसंतसेना गणिका है। नगर जनों का मनोरंजन कर जीविकोपार्जन करना उसका काम है। इन तमाम नायिकाओं को हम देखें तो इनका अपना कोई स्वतंत्र स्वर नजर नहीं आता है। वे सबकी सब की सब व्यवस्था का हिस्सा हैं और सब–की–सब किसी ना किसी पर निर्भर हैं।

भरत मुनी के नाट्यशास्त्र में नायक–नायिका भेद पर यदि गौर करें तो हम पाएंगे कि नायक तो कई प्रकार के लक्षणों और गुणों से भरे हैं, लेकिन नायिकाओं का काम सिर्फ और सिर्फ प्रेम करना है। स्वाधीन नृतका नायिका का प्यार उसके कब्जे में हैं, जो वासक सज्जा तैयार होकर अपने प्यार का इंतजार कर रही है, विरहोत्कंठिका विरह में व्याकुल है। तो अभिसारिका अपने प्रेम की उत्कल भावना पर काबू न पा स्वयं अपने प्यार के पास चली जाती है। ऐसा ही कुछ खंडिता, कलहंतरिता, विप्रलब्धा और पोशितप्रिया नायिकाओं के साथ होता है। कहने का अर्थ यह है कि इन नायिकाओं को नाटक में प्रेमिका की भूमिका निभानी है। उनका पूरा क्रिया–कलाप प्रेम या प्रेम से उपजे विरह के ईद–गिर्द

होगा। नाट्य शास्त्र नारी को किसी अन्य भूमिका में देख ही नहीं सकता है। खैर, जो भी हो, नाट्य शास्त्र अपने समय का एक महत्वपूर्ण लेखा–जोखा अवश्य प्रस्तुत करता है, जिसका प्रयोग आज के समय में जारी है, और नए प्रयोगों के लिए कई मूलभूत अवधारणाएं प्रदान करता है और भारतीय रंग संवेदना तथा रंग व्यवहार को एक मजबूत आधार प्रदान करता है।

यहां हम बात कर रहे हैं महिला रंग निर्देशकों की। यदि उपरोक्त परिपेक्ष्य में देखें तो नाट्य मूल्य जैसी प्रदर्शनकारी विधा में महिलाओं की उपस्थिति या भागीदारी कोई आधुनिक घटना नहीं है। नाट्य कला में इनकी सक्रियता सदा से ही रही, चाहे वह सिंधू सभ्यता मिथक हो या नाट्य शास्त्र, महिलाओं की उपस्थिति हमेशा से वांछित रही है। हां, हम उनकी भूमिका और उपस्थिति के विषय में अलग–अलग पहलुओं से विश्लेषण अवश्य कर सकते हैं।

दसवीं सदी आते–आते नाटक की शास्त्रीय अवधारणा क्षिण पड़ने लगी थी। नाट्य शास्त्र की टीका और मीमांशा भी लगभग समाप्त हो गई। नाटको को जो राजकीय संरक्षण मिल रहा था वह खत्म हो गया, फलतः नगरों में नाटक समाप्त हो गया। इसकी जो सबसे बड़ी वजह थी, वह या मुस्लिम शासकों का उदय और उनकी धार्मिक मान्यताएं। परिणाम स्वरूप ग्रामीण तथा आंचलिक प्रदेशों में एक नए किस्म की नाट्य परंपरा का विकास आरंभ हो गया, जिन्हें स्थानीय मंदिरों और स्थानीय लोगों का संरक्षण प्राप्त हुआ। जिसे आज हम परंपराशील नाट्य के रूप में जानते हैं। परंपराशील नाटकों में गीत, संगीत और नृत्य की प्रधानता थी। इसलिए हम इसे संगीतक के रूप में जानते हैं। अब यदि हम परंपराशील नाट्य को देखें तो पाते हैं कि इन नाटकों में महिला चरित्र तो हैं, लेकिन उसे निभाने वाले पात्र पुरुष हैं। चाहें हम नकल–तमाशा देखें, भांड जश्न देखें या फिर उत्तर भारत की नौटंकी हो या उत्तर पूरब का अंकिया नाट हो, इस सब लोक परंपरा में स्त्री चरित्र निभाने वाले पात्र पुरुष ही होते थे। इस आधार पर हम देखते हैं, लोक परंपराओं में चरित्र प्रस्तुत नहीं किए जा रहे थे, बल्कि अभिनेता उन चरित्रों का अपनी भाव भंगिमाओं द्वारा प्रतिनिधित्व कर रहा था। दर्शक मंच पर जो चरित्र देख रहे थे। लोक नाटक या परंपराशील नाटक शास्त्रगत बंधनों से निकल सही अर्थों में बहुजन संप्रेषण के माध्यम बन गए थे। नाटकों के रूप, कथन और व्यवहार को कई स्तर पर आजादी मिली। सामाजिक सरोकार के स्वर स्थान पाने लगे। नारी स्वर भी पहले की अपेक्षा अपनी एक अलग आवाज जरूर ढूंढ पाता है लेकिन यह आवाज भी उसकी अपनी आवाज

---

(4) 'Second Phase of Women Dircetors'

नहीं बन पाती है क्यूंकि उस आवाज का निर्वहन करने वाले पात्र पुरुष थे। स्त्री चरित्रों में सखा भाव तो उत्पन्न हो पाता है लेकिन ये चरित्र अपनी कोई मौलिक अभिव्यक्ति नहीं पाते हैं, घूम–फिरकर विरह और श्रृंगार के दायरे में ही उलझ कर रह जाते हैं। चाहे वह मीराबाई हो, मधुवर मालती हो, हीर–रांझा की नायिका हो या ज़ायसी के पद्मावत की नायिका पद्मिनी।

18वीं सदी में ब्रितानी हुकूमत का दबदबा भारतवर्ष में पढ़ने लगता है, 1757 आते–आते ईष्ट इंडिया कंपनी अपनी मजबूत पकड़ बना लेती है। भारत की सत्ता मुगली शासकों के हाथ से निकलकर किजानी हुकूमत के अंतर्गत चली जाती है। 1975 में कलकत्ता में पहले प्रोसेनियम थियेटर 'कलकत्ता थियेटर' की शुरुआत होती है। एक तरफ भारत की सत्ता औपनिवेशिक ताकतों के हाथ चली गई थी, लेकिन दूसरी तरफ एक नई सोच, नई व्यवस्था ने भी जन्म लिया, जहां व्यक्ति का महत्व बढ़ गया, तर्क और वैज्ञानिक चेतना की कसौटी पर चीजों को जांचा–परखा जाने लगा था। इसके प्रभाव से एक नए किस्म का रंगमंच कलकत्ता, मुंबई और चेन्नई जैसे शहरों में विकसित होता है और देखते ही देखते अपनी लोकप्रियता हासिल कर लेता है। इस बदलते हुए परिदृश्य में रंगमंच के क्षेत्र में भी महिलाओं की पुनः भागीदारी शुरू होती है। विनोदनी दासी कलकत्ते के रंगमंच में प्रवेश करती है तो गुलाब बाई उत्तर प्रदेश की नौटंकी में। गुलाब को नौटंकी की पहली अदाकारा होने का सौभाग्य मिलता है और देखते ही देखते गुलाब बाई सफलता के शिखर पर पहुंच जाती है। 10वीं शताब्दी के आस–पास छूटी भरत मुनी की नायिका को नाट्य कला में स्थान बनाने में लगभग 100 साल लग गए। हालांकि इन महिलाओं का रंगमंच में प्रवेश अभिनेत्री के रूप में हुआ था लेकिन जल्दी ही वे निर्णायक स्थान पर पहुंच गईं। गुलाब बाई ने अपनी थियेटर कंपनी बना ली। हालांकि भारत गुलाम था, लेकिन कई देशों में कई नई आजादी भी मिल गई थी। कुछ ऐसी ही स्थिति महाराष्ट्र के संगमूमि की भी थी। देश के बाहरी हिस्सों की तरह यहां भी महिला चरित्रों का निर्वहन पुरुष कलाकार ही कर रहे थे। महिलाओं की नाट्य प्रदर्शनी में पहला उदाहरण सन् 1865 में मिलता है। कंपनी थियेटर का उदय हो चुका था और देखते ही देखते मनोरंजन के व्यवसाय में यह सफलतापूर्वक धन अर्जित करने लगी थी। ऐसे समय में महिलाओं ने मिलकर अपनी नाटक कंपनी बना डाली। ये नाटक की कंपनियां महिलाओं द्वारा बनाई गई थीं और सिर्फ महिलाएं ही प्रदर्शनों में हिस्सा लेती थीं और अन्य कंपनियों की तरह पुरुषों का चरित्र भी इन्हीं महिलाओं द्वारा निभाया जाता था। इन कंपनियों में निचले तबके की महिलाएं थीं जो संभवतः पहले तमाशा जैसी लोक–कला में भाग लिया करती थीं।

इस प्रकार महाराष्ट्र के अंदर दो किस्म की कंपनियां तैयार हो गई थीं– एक जिसमें सिर्फ पुरुष थे, दूसरी जिसमें सिर्फ औरतें। इन महिला कंपनियों को हमेशा हीन दृष्टि से देखा गया और इनके द्वारा निभाए गए पुरुष पात्रों की भूमिका को नाट्य समीक्षाओं में भोंडा, अर्धनारी कहकर खारिज कर दिया गया। इस सबके बावजूद ये कंपनियां महाराष्ट्र में अपने दम पर प्रदर्शन करती रहीं। इन कंपनियों में विष्णुजन्य चित्त चालक स्वाति वर्षा पूणेकर हिंदू स्त्री नाटक मंडली' जिसमी मुख्य अभिनेत्री महालसा थी, इस बदलाव को सबसे बड़ा बल मिला। इष्टा जैसे सांस्कृतिक आंदोलन से जिसमें जाति, धर्म, वर्ग, लिंग का भेद भूलकर लोग एकजुट हुए और अंकाजी दमन के खिलाफ अपनी आवाज बुलंद की। इस आंदोलन में महिलाएं पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रही थीं और जिसके मालिक संचालक एक ब्राह्मण थे, दूसरी महिला कंपनी 'नाटककार मनोरंजक मुंबई हिंदू स्त्री मिश्रित नाटक कंडली' की स्थापना सन् 1867 में होती है। इसकी अभिनेत्री थी नीराबाई, तईबाई, विठाबाई और महालसा बाई। तीसरी कंपनी थी 'मानिक प्रभु प्रसादिक पूर्णचंद्रोदय सांगलिकर नाटक मंडली'। इस कंपनी के भी मालिक एक ब्राह्मण ही थे। सन् 1929 में हीराबाई बाहोडकर ने पहली मिश्रित नाटक मंडली बनाई, जिसमें स्त्री–पुरुष दोनों एक ही मंच पर हिस्सा ले रहे थे।

विष्णुदास भावे के माइथोलोजिकल नाटकों के बाद सन् 1861 से मराठी रंगमंच का एक नया दौर शुरू होता है, जहां ऐतिहासिक कथानकों वाले नाटकों के माध्यम से राष्ट्रीय चेतना जागृत करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही समाज में फैले सामाजिक कुरीतियां और संकीर्णतावादी मूल्यों पर भी चोट किया जाता है। 1885 से 1920 तक के काल को मराठी रंगमंच का स्वर्ण युग कहा गया है, यह वही समय था जब एक तरफ बालगंवे जैसे अभिनेता थे और खाडिलकर जैसे नाटककार और दूसरी ओर थी स्त्रियों की नाट्य मंडली। इन सब पर बाल गंगाधर तिलक जैसे राजनैतिक व्यक्तित्व और दार्शनिक का जबरदस्त प्रभाव था। तिलक केसरी और मराठा जैसे पत्रों में लिखी बातों का मराठी संगीत नाटक पर जबरदस्त प्रभाव था। ये कंपनियां तिलक की कही बात पर फौरन नाटक बनाकर पेश कर दिया करती थीं। इसका एक दाहरण है 'स्वदेशी चावल'। यह नाटक तिलक के स्वदेशी आंदोलन और अंग्रेजी वस्तुओं के बहिष्कार के समर्थन में लिखे लेख से प्रभावित था। तिलक के लिए सामाजिक बदलाव से अधिक प्रबल विषय था राजनैतिक आजादी। उनका मानना था कि सामाजिक बदलाव जैसे विषय पर जोर देने से राजनैतिक आजादी के लिए एकजुट हो रहे लोगों में

---

(6) 'Second Phase of Women Dircetors'

अलगाव आ जाएगा और राजनैतिक आजादी के उनके मकसद को धक्का पहुंचेगा, जबकि आगरकर, भंडारकर जैसे नाटककार सामाजिक बदलाव को प्राथमिकिता देने की बात कह रहे थे। तिलक चूंकि राजनैतिक आजादी की बात कर रहे थे। इसलिए स्त्रियों के अधिकार से जुड़े विषय उनकी प्रमुखकता में नहीं आए।

बलगांवकर स्त्री मंडली ने तिलक के विचार वाला 'डंडाधारी' नामक नाटक खेला। सामाजिक भावना को बिना भड़काए नाटक पुनर्विवाह और विधवा विवाह की बात करता था। बलगांवकर मंडली उस समय की मशहूर कोर्तीजन एकंबा की कंपनी थी। नाटक में रिफारमिस्ट का चरित्र करने वाले अभिनेताओं को लोकमान्य तिलक और जस्टिस गोखले के वस्त्र में पेश गया था। आम जनों में खूब तालियां बजीं लेकिन नाट्य मर्मज्ञ आलोचकों ने अभिनय की सराहना करने के साथ–साथ नाटक को भौंडा, अर्धनारी नटेश्वर और वृहन्नदा कहकर पूरी तरह से खारिज कर दिया। यहां गौर करने वाली बात यह है कि ये विधवा विवाह और पुनर्विवाह की प्रबल वे औरतें कर रही थीं, जो समाज के सबसे निचले तबके की थीं, जो कार्टिजन थीं।

वहीं दूसरी तरफ मुख्य धारा के संगीत नाटक मंडलियों में पुरुष अभिनेता स्त्री चरित्र का निर्वहन कर रहे थे और समाज के हर तबके में उनकी जबरदस्त स्विकारोक्ति थी। कहते हैं एक बार विष्णु बतवा, सती रमाबाई का किरदार निभा रहे थे। विष्णु बतवा ने सती के चरित्र को इस प्रकार निभाया कि दर्शकों में बैठी एक स्त्री उनकी पूजा करने लगी। यहां ध्यान योग्य बात यह नहीं है कि विष्णु बतवा कितने महान अभिनेता थे, जो बात ध्यान देने योग्य है वह यह कि औरतें पुरुष अभिनेताओं को स्त्री चरित्रों में किस आस्था के साथ देखा करती थीं। उसके उलट स्त्रियों के रंगमंच को उनके अभिनय को हमेशा अर्द्धनारी कहकर खारिज कर दिया गया।

प्रमुख महिला निर्देशकों का संक्षिप्त परिचय

सन् 1912 में अमरावती में 'अभिनेता और अभिनय' विषय पर नाट्य सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसी सम्मेलन में मथुराबाई द्रविड़ ने अपना पर्चा पढ़ा और पहली बार पुरुषों द्वारा निभाए जा रहे स्त्री चरित्र को आलोचनात्मक दृष्टि से विश्लेषित किया। मथुराबाई ने पुरुषों के अभिनय दृष्टि की आलोचना करते हुए उनके गहरे गले के ब्लाउज, स्तन को उभारती बदन से चिपकी साड़ी, उनके द्वारा किए जाने वाले उत्तेजक हाव–भाव की जबरदस्त आलोचना की और कहा कि 'निश्चित रूप से स्त्रियां इस प्रकार के उत्तेजक और अभद्र व्यवहार की पक्षधर कतई नहीं हैं।' मथुरा बाई द्रविड़ के इस आंदोलनकारी व्याख्यान ने मराठी रंगमंच में स्त्री भागीदारी को जोरदार ढंग से चर्चा में ला दिया। यही तबका जो एक समय में महिलाओं की भागीदारी पर प्रश्न उठा रहा था, अब उनकी भागीदारी के लिए नए–नए तर्क गढ़ने लगा था। लेकनि इस सबके पीछे भी कहीं न कहीं वही पुरुषवादी नजरिया और बाजार काम कर रहा था। सिनेमा की लोकप्रियता बढ़ने लगी थी। संगीत नाटक कंपनियों का मुनाफा पहले की तुलना में घटने लगा था, ऐसे में महिलाओं के भागीदारी की हिमायत करने वालों की संख्या बढ़ गई। कुलील घरों की स्त्रियों को भी अभिनय जैसे व्यवसाय में प्रवेश के लिए प्रेरित किया गया। स्त्रियों का मुख्य धारा के रंगमंच में प्रवेश हो गया। हालांकि, इस सबके पीछे बाजार का जबरदस्त दबाव काम कर रहा था। जो भी था स्त्रियों को बराबरी का स्थान तो न मिला, लेकिन एक प्लेटफार्म पर जरूर ला खड़ी की गईं। यह सब जो कुछ भी हो रहा था वह कोई बहुत पुरानी बात नहीं है। यह सच है कि सिर्फ आज से सौ साल पहले का। इस कतार में शामिल थीं त्रिप्ति मिश्रा, शांता गांधी, दीना गांधी, रेखा जैन, गुलवर्धन, कुदसिया जैदी और शीला भाटिया जैसी महिलाएं। इन्होंने ही आगे चलकर आधुनिक भारतीय रंगमंच में महिलाओं की आवाज को एक अलग पहचान दिलाई।

इप्टा ने हिन्दुस्तानी रंगमंच को कई स्तर पर प्रभावित किया। दरअसल, इसी आंदोलन ने महिलाओं को अभिनेत्री और निर्देशक के स्तर पर राष्ट्रीय परिदृश्य में ला खड़ा किया। शांता और दीना गांधी की भूमिका इप्टा आंदोलन में बड़ी महत्वपूर्ण रही है। इसी कड़ी में जोहरा सहगल और शीला भाटिया का नाम भी आता है। शीला भाटिया को मुख्य रूप से पंजाबी भाषा में ऑपेरा थियेटर

---

(8) 'Second Phase of Women Dircetors'

के लिए जाना गया। इसी दौर में ज्वॉय माइकल ने दिल्ली में 'यात्रिक' नामक अंग्रेजी रंगमंच की स्थापना की। उधर बंगाल में ऊषा गांगुली और शावली मित्रा काम कर रही थीं। शावली मित्रा को उनकी एकल प्रस्तुति 'नाचवति अनाथ वध' के लिए राष्ट्रीय पहचान मिली तो मंबई में विजया मेहता स्थानीय लोक कला रूपों को आधुनिक रंगमंच से जोड़ने का काम किया। ये साठ से अस्सी के दशक की महिलाएं रहीं हैं जिन्होंने आने वाली महिलाओं के लिए एक ठोस जमीन तैयार कीं जिसपर 90 के दशक की महिला निर्देशकों ने नए सौंदर्य की नाट्य रचना की।

आधुनिक भारतीय महिला निर्देशकों में शांता गांधी का नाम प्रमुखता के साथ लिया जाता है। शांता गांधी पहली भारतीय महिला निर्देशक थीं जिनके हाथ प्रस्तुति की बागडोर आई। भारतीय रंगमंच में परंपरागत रूप से निर्देशन का काम पुरुष निर्देशक की करते आ रहे थे, सौंदर्य को समझने का उनका अपना एक नजरिया था, शांता गांधी ने जब निर्देशन की बागडोर अपने हाथ में ली तो उनके अनुभव जगत में वही विन्रूास और सौंदय था जो उन्होंने अपने पुरुष सहकर्मियों के साथ काम करते हुए सीखा–जाना था, अनुभव किया था, इसलिए उनकी प्रस्तुति 'जसमा ओडम' के विन्यास में तो पुरुष निर्देशकों से भिन्न बहुत कुछ नहीं था लेकिन जसमा के कथानक को नई रौशनी में देखने का सौंदर्य बोध अवश्य था। शांता गांधी ने अपने नाटक के अंत को बदल दिया। नाटक 'जसमा ओडन' की नायिका जसमा नाटक के अंत में स्वर्ग लोक चली जाती है लेकिन शांता गांधी की जसमा स्वर्ग लोक में जाने से मना कर इसी पृथ्वी लोक पर रहने और संघर्ष करने का फैसला करती है। देखने–सुनने में यह बदलाव बहुत छोटा नजर आता है, लेकिन नारीवादी दृष्टि से देखें तो जसमा इब्सन के नारा जैसी चरित्र दीख पड़ती है जिसे अपने होने का एहसास होता है और वह अपनी नियति का स्वयं चुनाव करती है और उसके परिणाम के लिए स्वयं को तैयार करती है।

शांता गांधी शुरुआती प्रशिक्षित रंगकर्मी रही हैं और उन्होंने बाल रंगमंच के महत्व को अपने शुरुआती दिनों में ही जान समझ लिया था, संस्कृत नाटकों को आधुनिक समय में पुनः नए परिपेष्य में करने के महत्व को भी समझा तथा बाल रंगमंच और संस्कृत रंगमंच में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया और आने वाले रंग–निर्देशकों के लिए मार्ग खोले।

50 से 70 के दशक की महिला निर्देशकों की जद्दोजहद पुरुष प्रधान रंगमंच में अपना स्थान अपनी पहचान बनाने तक ही सीमित रहा, लेकिन 70 से 80 के दशक की महिला निर्देशकों ने नारी स्वर को रंगमंच में स्थान दिलाया। नारीवादी विषय और नारीवादी नजरिया उनके रंग चिंतन के विषय

बने। विषय–वस्तु और कथानक में दृष्टिगत बदलाव साफ–साफ देखने को मिले लेकिन नाट्य विन्यास और उसे प्रदर्शित करने के नजरिये में कोई खास बदलाव दृष्टिगत नहीं होता है। 90 के दशक में कई महिला निर्देशक नए तेवन और नए तरीके से रंगमंच की दिशा तय करना आरंभ करती हैं। ढांचागत स्तर पर, सौंदर्यबोध के स्तर पर, चरित्रांक के स्तर पर, करने के तरीके के स्तर पर रंगमंच को चली आ रही धारा को एक नई दिशा देती है। एक प्रकार से कह सकते हैं कि इन महिला निर्देशकों ने रंगमंच की वर्तमान दिशा बनाने में एक अहम भूमिका निभाई है। इस बदलाव के पीछे जो एक बड़ी वजह रही, वह ये कि महिलाएं पहले से ही आजाद ख्याल और आत्मविश्वास से भरी हुई थीं या करना चाह रही थीं। उन्हें मुख्य धारा से धकेले जाने का भय नहीं था। उन्हें इस बात की भी चिंता नहीं थी कि दर्शक या नाट्य वर्ग उनके काम को अस्वीकार कर देगा।

कीर्ति जैन की पृष्ठभूमि व इप्टा और प्रगतिशील विचारधारा की रही है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक के रूप में भी कीर्ति जैन ने काम किया।' कीर्ति जैन ने उर्वशी बुटालिया के उपन्यास 'द अदर साइड ऑफ साइलेंस' पर आधारित नाटक 'और कितने टुकड़े' किया। नाटक भारत–पाक विभाजन की मार झेलने वाली औरतों और बच्चों की कहानी लेकर आता है। वही उनका नाटक 'हमारा शहर उस बरस' गीतांचली के उपन्यास पर आधारित नाटक है। नाटक एक शहर की सहिष्णुता की भेंट चढ़ जाने की कहानी है। बिलगाव और विस्थापन इसकी निहित कथा है।

नीलम मानसिंह चंडीगढ़ की नाटय निर्देशिका हैं। नीलम जी ने ब.व. कारंथ के साथ भोपाल के रंगमंडल में काम किया। वहां से लेकर चंडीगढ़ तक उनका और कारंथ जी का साथ कारंथ जी के जीते जी हमेशा बना रहा। नीलम मानसिंह कोलेबरेशन में काम करती रही हैं जिनके लिए संगीत कारंथ जी ने किया और नाट्यलेख पंजाबी के मशहूर कवि सुरजीत पातर ने, पंजाबी लोक कला और आधुनिक विषय वस्तु का एक जबरदस्त सम्मिश्रण नीलम के काम में देखने को मिलता है। नीलम के नाटकों की नायिका अपनी यौनिकता को लेकर हीन भावना से ग्रसित नजर नहीं आती बल्कि उसके साथ को स्वीकारती और उसका उत्सव मनाती है। नीलम की नायिका साहस से भरी हुई नायिका है।

माया राव कथकली की प्रशिक्षित अभिनेत्री हैं। माया के अधिकांश काम एकल स्वभाव के हैं। माया कथकली की भाव भंगिमाओं के आधुनिक भाव भंगिमाओं के साथ मिलाकर एक नई देह भाषा का सृजन करती नजर आती हैं। इनकी प्रस्तुतियां राजनैतिक हैं, स्त्री विमर्श इनकी प्रस्तुतियों का

---

(10) 'Second Phase of Women Dircetors'

विषय वस्तु हैं। अपने हाव–भाव, रूप सज्जा और वस्त्रों के माध्यम से माया राव एक नए सौंदर्य की रचना करती हैं।

अनामिका हक्सर का प्रशिक्षण सोवियत यूनियन में स्तानेलावस्की मेथड में होती है। उसके बाद बाद कारंथ के निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में। अनामिका हक्सर ने हमेशा हाशिए के विषय को अपने नाटक का कथानक बनाया। उपन्यास और महाकाव्य इनकी प्रस्तुति के लिए सामग्री का काम करते रहे हैं। चाहे वो तमिष भाव का महाकाव्य शिल्पाधिकारम हो, दोस्तोवस्की का 'इडियट' हो या फिर लक्ष्मण गायकवाड़ का आत्मकथात्मक उपन्यास 'उचल्या'।

त्रिपुरारी शर्मा लेखिका एवं निर्देशक हैं। त्रिपुरारी ने हाशिए के लोगों और सामाजिक संगठनों के साथ मिलकर शिद्दत के साथ काम किया है। इसलिए इनके नाटकों के विषय हाशिये के विषय वस्तु हैं जिसमें स्त्री विमर्श बड़ी प्रधानता से स्थान पाता है। त्रिपुरारी जो कि स्वयं स्त्री हैं, लेखिका एवं निर्देशिका हैं, इसलिए इनके नाटकों में स्त्री स्वर वही और वैसे ही अभिव्यक्त होता है जैसे त्रिपुरारी चाहती हैं।

अमाल अलाना ने मौनुमेंटल नाटक किए हैं। उन्हें मनोहर सिंह जैसे अभिनेता का साथ मिला, मनोहर सिंह को लेकर उन्होंने बेगम बर्चे, हिम्मत माई और नागमंडल जैसे नाटक किए। बेगम बर्वे का नायक संगीत नाटक में स्त्री भूमिका करने वाले अभिनेता की कहानी है, पुरुष द्वारा स्त्री रूप धारण करना आलेख में ही नीहित है जबकि हिम्मत माई ब्रेख्त के मदर करेज का नाट्य रूपांतर है। यहां अमाल एक पुरुष अभिनेता को स्त्री रूप देकर स्त्री देह और मन को समझने का प्रयास करती हैं। हालांकि अमाल स्त्रीवादी नहीं हैं लेकिन स्त्री विषय उनके नाटक के केंद्र में किसी ना किसी रूप में आता ही रहता है।

Kirti Jain

'Second Phase of Women Dircetors' (11)

कीर्ति जैन का रंग कार्य

आजादी के बाद के नए हिन्दुस्तान में नए रंगमंच की तलाश शुरू हो गई थी। इप्टा जैसे आंदोलन भी भविष्य की चिंता में लगा हुआ था। इसी नए की तलाश में जोश और उम्मीदों से भरे माहौल में कीर्ति जैन का बचपन बीता। इप्टा आंदोलन और प्रगतिशील लेखकों, साहित्यकारों का सान्निध्य बाल्यकाल से ही मिला। माता रेखा जैन और पिता नेमीचंद जैन दोनों ही संस्कृतिकर्म से जुड़े हुए थे। इसलिए सांस्कृतिक समझ उन्हें बिरसे में मिली। निजता की तलाश इस दौर की सबसे बड़ी तलाश थी। व्यक्तिगत निजता से भारतीयता तक या फिर कहें भारतीयता से निजता तक। एक तरह से कहें तो आजाद भारत के बनते और बदलते रंग परिदृश्य के साथ कीर्ति जैन स्वयं बन और बदल रही थीं। कीर्ति जैन के इस बनने और बदलने को आजाद भारत के रंग परिदृश्य में साफ–साफ देखा और पढ़ा जा सकता है। वह इस बदलाव के सिर्फ एक मूक साक्षी नहीं थीं बल्कि स्वयं इसे बनाने और बदलने में लग गईं। कीर्ति जैन का अनुभव फलक भारतीयता को तलाश से लेकर वैश्वीकरण तक का रहा है, जिसमें उत्सव धर्मिता है, स्व की तलाश है, द्वंद्व है, आजाद भारत में उपजी हताशा और भय है, बदलती बनती नई दुनिया की चिंता है। अगर इनके किए नाटकों पर गौर करें तो यही विषय है और इन्हीं विषयों और चिंतन से निकलता इनका रंग विधान या विन्यास है।

दिल्ली विश्वविद्याय से अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. करने के बाद निर्देशन में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से डिप्लोमा किया तथा सन् 1977 में आधुनिक भारतीय रंग–मंच की शिक्षिका के रूप में रा. ना.वि. से जुड़ गईं। वर्ष 1988 में कीर्ति जैन ने राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की बतौर निदेशक कमान संभालीं और नाट्य प्रशिक्षण को नई दिशा देने का काम शुरू कर दिया। यह दौर था थियेटर ऑफ रूह का। हबीब तनवीर, ब.व. कारंथ और के.एन. पनिक्कर के रास्ते पर चलते हुए उस समय के कई युवा रंगनिर्देशकों को राष्ट्रीय पहचान बनने लगी थी, बतौर शिक्षक कीर्ति जैन ने विद्यालय के शिक्षण प्रशिक्षण में क्षेत्रीय अध्ययन को प्रमुखता के साथ शामिल किया। इसके पीछे का मूल विचार था कि प्रशिक्षणार्थी हर वर्ष किसी एक प्रदेश में जाकर रहते हुए वहां की स्थानीय लोक कला को देखेंगे, सीखेंगे तथा आधुनिक रंगमंच में इसकी उपयोगिता और प्रयोग का मूल्यांकन विश्लेषण करेंगे। इससे छात्रों की प्रादेशिक समझ बढ़ेगी और भविष्य में अपने–अपने प्रदेशों में जाकर रंगमंच करने की प्रेरणा

---

(12) 'Second Phase of Women Dircetors'

निकलेगी। यही वह दौर था जब प्रशिक्षण में सच पर बल बढ़ा और अपने को समझने और जानने की दिशा में दिए जाने वाले शिक्षण पर जोर बढ़ा। प्राथमिक शिक्षा में रंगमंच की भूमिका को ध्यान में रखते हुए देश के पहले 'थियेटर इन एजुकेशन कम्पनी (टाई)' की स्थापना की गई। कीर्ति जैन भविष्य के रंगमंच को देख पा रही थीं, बच्चे आने वाले भविष्य के निर्माता होते हैं। वे इस बात को भलीभांति समझ रही थीं कि बच्चों के रंगमंच में ही भविष्य का रंगमंच है।

कीर्ति जैन के निर्देशित नाटकों में 'हयवदन', 'भूखे नाविक', 'एक और अजनबी', 'अंत नहीं', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'नट सम्राट', 'होली', 'सवर्णलता', 'तिनका–तिनका', 'कौन उजवा नगरिया लूटल हो', 'बगदाद बर्निंग', 'सब कुछ चकाचक' और 'हमारा शहर उस बरस' प्रमुख हैं। नाटकों की ये उपरोक्त सूची लगभग क्रम में हैं। लहरों के राजहंस 1992 में रंगमंडल रानावि की प्रस्तुति है तथा होली वर्ष 1996 भारतेन्दु नाट्य अकादमी की, हयवदन, भूखे नाविक, अंत नहीं, नट सम्राट ये सब 1996 से पहले के नाटक हैं।

मैं बतौर शोधार्थी कीर्ति जैन के नाटकों पर नजर डालती हूं तो 1997 से पहले के नाटक और उसके बाद के नाटकों में एक स्पष्ट अंतर देखने को मिलता है। यह अंतर आलेख के तो स्तर पर है ही, उसके विन्यास, उसके किए जाने के तरीके के साथ–साथ उसके सौंदर्य भी साफ–साफ देखने को मिलता है। 1996 तक के कीर्ति जैन द्वारा खेले गए नाटकों में से अधिकांश नाटककारों द्वारा लिखे गए संपूर्ण नाटक हैं। चाहे वो मोहन राकेश का लहरों का राजहंस हो, गिरीश कर्नाड का हय वदन हो या फिर शिर्वाडकर का नट सम्राट, इन नाटकों का अपना एक निश्चित विधान और दर्शन है। इनकी अपनी संरचना है, इनकी अपनी ऐतिहासिकता है। इन नाटकों की संरचना और उसका डिमर्श नाटक को एक खास दिशा में खास तरीके से खेले जाने के लिए बाध्य करता है। अगर मैं लहरों के राजहंस को उदाहरण स्वरूप लूं तो यह वह दौर था जब इतिहास और मिथक की कथाओं को आधार बनाकर वर्तमान के संघर्ष और समस्याओं को देखा–समझा जा रहा था। यही वह वक्त था जब एक तरफ थिएटर ऑफ रूह को हिन्दुस्तानी रंगमंच के रूप में स्थापित किया जा रहा था। वहीं दूसरी ओर शहरी बनाम ग्रामीण या लोक रंगमंच पर बहस चल रही थी। एक धारा आंचलिक कस्बाई यथार्थ और परंपरागत नाट्य रूपों और विधानों को भारतीय यथार्थ मान रही थी, वहीं दूसरी धारा शहरी यथार्थ की बात कर रहा था। उसका मानना था कि नागरीय यथार्थ भी भारतीय है और चूंकि शहर विकास का प्रतिनिधित्व करता है और गांवों अंचलों का विकास भी शहरी विकास से जुड़ा है,

इसलिए शहरी यथार्थ की बात करना भी उतना ही बेमानी है जितनी लोक परंपरा और मिथकीय कथाएं। तो हम पाते हैं कि एक तरफ तो कर्नाट और कंबार जैसे नाटककार हैं, वहीं दूसरी ओर विजय तेंदुलकर और कुछ तह तक मोहन राकेश भी। इसलिए इस काल के नाटकों में जहां एक तरफ शास्त्रीयता, लोक कला रूपों और आधुनिकता का जबरदस्त सम्मिश्रण नजर आता है, वहीं दूसरी ओर 'सखा राम बाइंडर' और 'शांतता कोर्ट चालू आहे' जैसी नगरीय पृष्ठभूमि वाले यथार्थवादी संरचना के नाटक जिन्होंने सौंदर्यबांध की शास्त्रीय परिभाषा को बिल्कुल उलट दिया।

ऐसे में कीर्ति जैन सन् 1992 में रानावि रंगमंडल के साथ 'लहरों के राजहंस' करती हैं तो कहीं न कहीं नाटककार के दिए गए दायरे में ही बंधी सी नजर आती हैं। बहुत ही साफ–सुथरी प्रस्तुति होने के बावजूद नाटक से हटकर किसी सौंदर्य या दर्शन का सृजन करती नजर आती हैं, या यूं कहें कि कीर्ति जैन का स्व नाटक में परिलक्षित होता नजर नहीं आ पाता है। नाटक तो कर्ति जैन ने किया लेकिन वह कीर्ति जैन का कितना हो पाता है, इसमें संदेह होता है, घुमा फिराकर लहरों के राजहंस की प्रस्तुति मोहन राकेश की ही प्रस्तुति होकर रह जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रस्तुति में निज का अभाव लगातार खटकता है।

वर्ष 1996 में भारतेंदु नाट्य अकादमी लखनऊ के साथ 'होली' नाटक करने के बाद कीर्ति जैन 1999 में 'क्षितिज' के बैनर तले आशापूर्णा देवी के उपन्यास 'सुवर्णलता' की प्रस्तुति मील के पत्थर की तरह कीर्ति जैन के काम को उनके पिछले काम से अलग करती है। 'सुवर्णलता' को हम एक मार्कर की तरह देख सकते हैं।

पहली बात तो यह कि 'सुवर्णलता' कोई बना–बनाया नाटक नहीं था, उपन्यास था जिस पर नाटक खेला जाना था। उपन्यास की जमीन को नाटक की जमीन पर अपनेआप में एक मौलिक कार्य था। इसे नाट्य रूप देने का काम हिंदी की मशहूर लेखिका गीतांजलि श्री कर रही थीं। 'सुवर्णलता' से पहले गीतांजलि को नाट्य रूपांतरण का एक अच्छा खासा अनुभव था। गीतांजलि श्री ने अनुराधा कपूर के लिए रविन्द्रनाथ टैगोर के गोरा और हादी रूसवा के 'उमराव जान अदा' का नाट्यांतर किया था। गीतांजलि श्री नाट्यांतरण का साझे तरीके से करती हैं। जहां अभिनेता अपने अभ्यास में अपने तरीके से कुछ खोजने की कोशिश करता रहता है और गीतांजलि उसे कलमबद्ध करती जाती हैं। गीतांजलि श्री का दृश्यों को खंडित कर देना चरित्रों को एक नए क्षितिजि में ले जाती है। जहां

---

(14) 'Second Phase of Women Dircetors'

मर्यादाएं धुंधला जाती हैं, निश्चित अनिश्चित सा नजर आने लगता है। यह जो अनिश्चितता, धुंधलापन और विखंडन है वह सच के एक–दूसरे पहलू को उजाकर करता चला जाता है। गीतांजलि श्री ने सुवर्णलता को इच्छा आकांक्षा को अलग–अलग स्थानों के माध्यम से जैसे समुद्री किनारे, खिड़कियों से व्यक्त किया।

इस प्रकार देखा जाए तो 'सुवर्णलता' कीर्ति जैन की पहली साझी प्रस्तुति है जिसमें निर्देशक, लेखक, अभिनेता, आकल्पक सब मिलकर प्रस्तुति को बनाने का काम कर रहे थे। चूंकि नाटक के केंद्र में स्त्री थी और उसको निर्देशित करने और लिखने वाली दोनों स्त्रियां थीं, इसलिए नाटक का नारीवादी स्वर बहुत साफ और स्पष्ट नजर आता है। एक प्रकार से हम कह सकती हैं कि 'सुवर्णलता' ने कीर्ति जैन के काम को एक नई जमीन और नया सौंदर्य दिया जो कीर्ति जैन का तो था ही, लेकिन उतना ही गीतांजलि श्री का था और बराबर का नाटक से जुड़े तमाम लोगों का।

'सुवर्णलता' के बाद कीर्ति जैन ने अपनी प्रस्तुति के लिए कभी भी बने बनाए नाटक नहीं, बल्कि साहित्य की अन्य विधाओं जैसे उपन्यास, रिपोर्टाज और ब्लाग्स से अपने नाटक के विषय चुने और साझी प्रक्रिया में प्रस्तुति की रचना की। कीर्ति जैन सामाजिक सरोकार वाली निर्देशिका रही हैं, इसलिए उनकी नाट्य चिंता और नाटक के विषय हमेशा वर्तमान से और उनके अनुभव जगत से सीधे–सीधे जुड़े होते हैं।

यहां मैं चर्चा करूंगी उनकी दो प्रस्तुतियां 'हमारा शहर उस बरस' और 'सबकुछ चकाचक' की:

लोकप्रियता की अवधारणा

यह उत्तर–आधुनिकतावाद की आवश्यकता हो सकती है कि वह उन सब कला–विधाओं और शैलियों का पुनर्मूल्यांकन करे, अपने अहाते में ले आए जिन्हें आधुनिकता ने अपने दायरे के बाहर रख छोड़ा था। यानी लोक कला और लोक कृति फिर प्रमुख हो आए हैं– हालांकि लोकमंच और लोक कलाकार का महत्व इससे कितना बढ़ पाता है– यह भी एक बहस का विषय हो सकता है। लोकप्रियता और पॉपुलर, उत्तर–आधुनिक कला आलोचना के मुख्य बिंदु तो हैं ही– क्योंकि अधिकतर भारतीय लोक कलाएं यथार्थ की तस्वीर न होकर, उसका बिम्ब हैं, उसके सार से उभरीं, मंचीय भाषा और सौंदर्य शास्त्र में ढला प्रदर्शनीय रूप है– इसलिए भी इनका विश्लेषण अपने आप में समकालीन और महत्वपूर्ण प्रयास है। आधुनिकता का दौर मूलतः यथार्थवाद का दौर रहा है– जहां चिंतन ने भी भौतिक तथ्य के परिपेक्ष्य में विचारों का मंथन किया और कला क्षेत्र में फोटोग्राफ एक मिसाल बन गई। फोटो के रंगीन होने तक उसका जादू कायम रहा– क्योंकि रंगीन होते ही वास्तविकता का सत्य अपनी प्रेरणा खो बैठा, क्योंकि तब से अब तक सामाजिक और आर्थिक कारणों से भौतिक यथार्थ का अर्थ बदल चुका है। उसका रंगीनीकरण कर दिया गया है।

आधुनिकता का बखान करने वाला युग विज्ञान, पूंजी और मशीन का युग था। कर्मठ व्यक्ति और उसके व्यक्तिवाद का भी– कारोबार में उलझा। 'डेथ ऑफ ए सेल्समैन' का व्यक्तित्व–जीविका और जीवन मूल्यों के संघर्षों के बीच उलझा। अब कारोबार जम चुका है, चल निकला है, उसे उपभोक्ता की जरूरत है। यदि बसते शहरों के लिए रातोंरात फ्लैट्स और फ्लाईओवर खड़ा कर देना आधुनिक शिल्प का कमाल था तो अब विक्टोरियन शिल्प, डिजनीलैंड के झलकते 'मॉल', उत्तर आधुनिक की ओर अग्रसर होती निगाह के प्रमाण हैं। राजस्थानी हो या गुजराती– जो साधारण न हो– लगे कि आम से हटकर, उसकी मांग है। क्षण भंगुरता के रहस्य में हर क्षण की पहचान है, उसके रसास्वादन में तात्कालिकता अनिवार्य है। इस माहौल के रहते, हर कला को आज लोकप्रियता की तलाश है। हर तरफ से उस पर यह दबाव है और उसके अस्तित्व के लिए चुनौती बन गया है। और मंच भी उन लोकप्रिय तत्वों पर गौर कर रहा है जो पीछे किनारे छूट गए थे। इस कोशिश को अतीत की डोर नहीं खींच रही, बल्कि भविष्य का असमंजस उसे विचलित कर रहा है।

---

(76) 'Second Phase of Women Dircetors'

जब आधुनिक सिनेमा को बुनियाद देने वाले निर्देशक अब जब स्वयं कहते हैं कि पॉपुलर और समानांतर में कोई अंतर नहीं, फिल्म फिल्म होती है, कभी अच्छी, कभी बुरी– तो पता नहीं यह सिनेमा के सिद्धांत का फेर है या वक्त का जकाजा। बहरहाल, लोकप्रियता से परहेज नहीं रहा, अलबत्ता उससे लुप्त हो जाने का भय इधर कुछ बढ़ जरूर गया है। अब कला–संस्कृति को पयर्टन के दायरे में देखना तार्किक और उचित हो गया, रंगमंच से जुड़ी पठनीय सामग्री 'इंटरटेनमेंट' पेज के किसी कॉलम में दिखे तो हैरानी नहीं होती, मानो न मानो, वस्तुतः वही उसकी बड़ी जगह है।

लोकप्रियता यानी क्या? पसंद किया जाना? तब तो बहुत–सा सृजन होता ही नहीं। क्योंकि मन जब विचलित होता है, आंदोलित होता है, तभी रचता है– अपने लिए या उसके लिए जो सहृदय हो सके। स्त्री की अनुभूति को पॉपुलर कहां तक स्वीकार कर पाया है? यदि रचनाकार लोक मानसिकता पर ही प्रहार करना चाहे तो? तब क्यों वह रचना व्यर्थ है? अक्सर ऑस्कर वाइड पॉपुलर को संदिग्ध दृष्टि से ही देखते थे। लोक की लीक से हटकर चलने वाले अपनपे मन की राह रचते हैं। चित्तौड़ ने मीरा और मीरा के सृजन को नहीं स्वीकारा, पर कहीं और उसे लोकप्रियता हासिल हुई। कबीर के हिस्से लोकप्रियता आई। पता नहीं कब और कैसे। क्योंकि वाणी उनकी मीठी नहीं, खड़ी थी। पर, वही लोकप्रिय हो गई। जिसे सुना गया। सुनना चाहा। लोगों द्वारा चाहा जाना... लोकप्रियता की कसौटी है। जिसकी मांग हो, जिसके होने से जनता जुड़ी हो, जिसे लोग सुनें, जो बात लोक मन को प्रतिध्वनित करती हो– उसके किसी एक पक्ष– किसी चाह को उजागर करती हो, और जिसके कारण वे उस बात को कहने वाले को अपना नायक/रचयिता/नेता स्वीकार करें। इसके लिए अवाम का अक्स बन सकने की काबलियत होनी चाहिए। आज की तारीख में वह कला कौशल से तराशी जा सकती है क्योंकि लोकप्रियता अर्जित कर पा सकना अपने आप में एक किस्म का कौशल है। और आवश्यक नहीं कि लोकप्रियता और श्रेष्ठता एक ही हो। शास्त्रीय संगीत के श्रेष्ठतम गायक के हिस्से अक्सर वह प्रसिद्ध नहीं आ पाती जो उनसे कुछ भिन्न गाने वाले पा जाते हैं। विचार तथा लेखन के क्षेत्र में भी समान उदाहरण देखे जा सकते हैं।

आज लोकप्रियता सहज नहीं उत्पन्न हो जाती, लोक तक पहुंचना भी एक लंबे, सटीक और सघन योजना के तहत संभव है। हालांकि ऐसे प्रयास लाभकारी होते हैं। हां, कुछ तत्व तो उसमें लोक मन के होने चाहिए। वस्तु अगर भा जाए तो उपभोक्ता उसे लेता है, नेता अगर लोकप्रियता पा जाए तो लोकसभा तक पहुंच सकता है। प्रजातंत्र और बाजार दोनों की चुनाव पर आधारित हैं। वे

लोक को चुनने का मौका देते हैं, किंतु साफ है कि चुनाव खास परिस्थितियों द्वारा निर्मित और परिभाषित किया जाता है। (हिंदी में इलेक्शन और चॉयस दोनों के लिए आमतौर से 'चुनाव' शब्द का ही प्रयोग होता रहा है। क्या इसके पीछे कोई और रहस्य है? 'ब्रांड' शब्द भी तो चलन में आ गया है!) किंतु, अर्थशास्त्री 'प्रजातंत्र और मूंजीवाद' में विरोधाभास देखते हैं क्योंकि दोनों एक ही काल में साथ–साथ विद्यमान हैं और पॉपुलर को हथियाने की होड़ में जुटे हैं। यह सांस्कृतिक समानता भी है और हमारे समय की विडंबना भी।

इसका अभिन्न साज नक्कारा, जिसकी रनक मीलों तक दर्शकों को आमंत्रित करती और प्रदर्शन स्थल तक खींच ले आती। नक्कारे से इस इलाके का विशेष संबंध है। राजाओं के नौबतखानों में बजता नक्कारा युद्धभूमि का भी ध्वनिबिम्ब रहा है। पानीपत, दिल्ली, आगरा, कानपुर के बीचोबीच का यह इलाका रण से ग्रसित–त्रसित रहा है, आम जीवन तो युद्ध से पीड़ित रहा। नौटंकी में नक्कारा उसी खलबली और बेचैनी का प्रतिलक्षण है, जहां चुप्पी में राहत नहीं, खलल है। नौटंकी कोई भी हो, नक्करे की रनक से यहां छाती फटती है, मन मग्न रहता है, वक्ष चिघाड़ता है, रोष और गुबारा का आवर्तन स्मृति को दोहराता है, पीढ़ी दर पीढ़ी ध्वनि का सिलसिला धरोहर बन जाता है– एक विशिष्ट पहचान, विशिष्ट सम्मोहन...

यही नक्कारा, जब आज की तारीख में, दिल्ली में बजता है तो कटु लगता है, उसे कम किए जाने की बात होती है, क्योंकि माहौल भिन्न है। ठीक इसी तरह रात भर कहानी कहने वाली पाण्डवानी का संपादन कर बीस–तीस मिनट की प्रस्तुति बना देने की कोशिश भी होती है। यानी भूमिका कम और कौशल का करिश्मा अधिक। पॉपुलर होने का संकट यह हो सकता है कि स्थानीय सार और संदर्भ को कम कर, कौशल या असाधारण तत्वों को उभारने की आवश्यकता पड़ जाए। पॉपुलर बने रहने के लिए नौटंकी में मंच सज्जा, नृत्य और तकनीकी जादू का ग्लैमर जुड़ गया है। इस बीच लोकधुनों का प्रयोग नौटंकी में हुआ और उनका संदर्भ बदला। यही धुनें नौटंकी से हिंदी सिनेमा में गईं और नए शब्दों से लैस पुनः नौटंकी मच पर हावी होने लगीं और उसे पापुलर बनाए रखने में कारगर सिद्ध हुईं। कथानक कम हुआ और मंचनीय प्रदर्शन बढ़ गया। एक समय के बाद नए आलेख आने रुक गए। आलेख कम हुए, इसलिए प्रदर्शन कला में इजाफा हुआ। क्या इसीलिए नए आलेखों की आवश्यकता नहीं रही? आधुनिक नागरी मंच उत्तर– आधुनिकता के प्रभाव से ग्रसित

---

(78) 'Second Phase of Women Dircetors'

जिन प्रश्नों का सामना कर रहा था, लोक मंच एक लबं समय से लगभग मिलती–जुलती उलझनों से गुजर चुका है। इसमें से एक तो कथानक को लेकर है। आलेख जब प्रचलन में आ चुका होता है, कथा और शब्द से दर्शक परिचित हो जाते हैं, तब मंच उसके साथ कई तरह से खेल सकता है। मंचीय संभावनाओं का प्रयोग बढ़ जाता है। एक ही दृश्य को विभिन्न मंडलियां कैसे प्रस्तुत करती हैं, यह दर्शक के कौतुहल का विषय हो सकता है। क्योंकि तब कथा का कहा जाना या मात्र दोहराया जाना महत्वपूर्ण नहीं रह जाता। महत्वपूर्ण हो जाता है दोहराए जाने का ढंग या तरीका। यानी गायकी में परिवर्तन या अभिनय की कोई और विशेषता... अच्छा लगने पर जिसके पुनः मंचन की मांग हो सकती है। संपूर्णता की जगह टुकड़ों की तात्कालिक रसास्वादन या आनंद। मंचन का प्रयोग खुल जाता है।

कथानक की जगह नृत्य भी ले सकता है। ट्यूब लाईट के टूटने की सिरहन भी या मसखरापन भी। ये सब मंचीय कलाएं हैं और अगर इनमें शो चलता है, पॉपुलर बना रह सकता है तो इनके प्रयोग पर पाबंदी क्यो हो? रामलीला में जब तय है कि रावण का पुतला जलेगा तो दर्शक आतिशबाजी के कमाल में नयापन चाह सकता है या ढूंढता है। जो वह जानता है, जिससे परिचित है, उसी में नया कुछ– निश्चित में या निश्चित से आश्चर्यचकित हो पाना। यानी निश्चित का अचानक अनिश्चित बन जाना...

नए कथानक के लिए जो यत्न या जो जुड़ाव चाहिए, उससे कम में कई बार पुराना नए का लुत्फ दे सकता है... कम से कम एक अवधि तक। जब तक प्रदर्शनीय कलाएं उसे नयापन दे पाती हैं, लोक उससे जुड़ते हैं। कई बार कथानक छूट भी सकता है। कई व्यावसासिक मंडलियों द्वारा कथानक का इस्तेमाल आंशिक मात्र रह गया है। कुछ में वह भी नहीं। हालांकि नए पुराने गायक कलाकारों का मानना है कि कथानक विधा का रूप कायम रखता है। पाण्डवानी में अभिनय और ऊर्जा के साथ–साथ समकालीन घटनाओं का उल्लेख महाभारत के प्रसंगों को दिलचस्प बनाने के साथ–साथ वर्तमान को अर्थ प्रदान करना है। कला में समाहित निहित तत्वों से लोकप्रिय प्रमाणित होना या लोकप्रिय बनने का प्रयास करना अथवा लोकप्रियता को भुनाते रहना– इनके बीच का विभाजन का बड़ा बारीक है। पर इससे मंचन की दिशाएं पलट जाती हैं। दूसरी ओर ठहरा हुआ कथानक विधा का विकास रोक भी सकता है। कथा से मुक्त कत्थक, नृत्य और भाव अभिनय का समृद्ध व्याकरण से स्वयं को पुनः परिभाषित कर देते हैं।

पापुलर क्या है? पापुलर में क्या होना चाहिए? यह निर्णय उपभोक्ता लेता है या उपभोक्ता के नाम पर किसी और की स्वीकृति ले ली जाती है या उसे धीरे–धीरे खास किस्म की अपेक्षा या आदत हो जाती है और फिर यह दृष्टि परंपरा बन जाती है? यानी उपभोक्ता को प्रशिक्षित या अनुकूलित किया जा सकता है।

कई वर्षों से आगरा में ताज महोत्सव मनाया जा रहा है। इसे शास्त्रीय, लोक और पॉपुलर की विभिन्न धाराओं का संगम भी कहा जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों से मुंबई और फिल्म जगत के सितारों का अनुपात बढ़ गया है। जाहिर है कि यह पॉपुलर मांग का असर है। इसी मंच पर मयूर नाच, लठमार होली आदि के दृश्य भी प्रस्तुत किए जाते हैं किंतु इनकी प्रदर्शन अवधि छोटी होती है। दूसरे मंच और प्रकाश व्यवस्था बड़े नामों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर की जाती है जिससे लोकरूप तकनीकी रूप से खो जाता है। यानी एक तरह से पॉपुलर का तकनीकी पक्ष तय कर दिया जाता है। फिर भी शास्त्रीय नर्तक, संगीतज्ञ और कार्यक्रम दर्शकों तक पहुंचते जरूर हैं पर उनके स्वभाव–सुविधाएं विशिष्ट हो सकती हैं। कुछ वरिष्ठ कलाकार इस ओर ध्यान देते भी हैं और उनका आग्रह व्यर्थ नहीं जाता। मगर आवश्यकता व्यवस्था के और संवेदनशील होने की है वर्ना पॉपुलर होने की प्रतियोगिता कुछ का पक्ष कमजोर कर देती है। दूसरे, यह देखा जा सकता है कि मंच के सितारे स्वयं को पॉपुलर बनाए रखने की भरसक प्रयास करने से नहीं चूकते। उनके आगमन पर अगर तालियां कम बजती हैं, तो वे दर्शकों से पुनः अभिनंदन की सिफारिश करते हैं... अगर उनके गाने और नृत्य पर वाहवाही या सीटियां नहीं बजतीं तो वह इसकी मांग करते हैं... उकसाते हैं कि वे ऐसा करें। दाएं बैठे दर्शकों के शोर की तुलना बाईं तरफ वाले दर्शकों से होती है... यानी शोर और चिल्लाने की प्रतियोगिता दर्शकों में होने लगती है... इसमें मर्दानगी और मोहब्बत की दुहाई बहुत बार दी जाती है। दबाव दिया जाता है कि वे कुर्सी छोड़ नाचें भी या कम से कम कुछ उछलकूद तो करें ही... घंटे डेढ़ घंटे के इस कार्यक्रम से दर्शकों का अच्छा खासा वार्मअप हो जाता है और गायक–डांसर के एक्जिट पर जोरदार तालियां बज उठती हैं और कलाकार सितारा अपने पॉपुलर होने की संतुष्टि के साथ प्रस्थान कर पाता है। उनकी मौजूदगी से दर्शकों का ज्ञान वर्धन भी होता। प्रारंभ में उन्हें मालूम नहीं था कि उन्हें ऐसा करना है। अगले वर्ष दर्शकों का एक वर्ग इस भागीदारी के लिए तैयार हो चुका होगा। दो–चार साल में पॉपुलर की यह धारणा बन चुकी होगी कि दर्शकों– विशेष रूप से पुरुष

---

(80) 'Second Phase of Women Dircetors'

दर्शकों से ऐसे व्यवहार की अपेक्षा की जाती है। और उन्हें ऐसा करना चाहिए– या ऐसा किया जाता है, ऐसा होना होता है... होता है। इस तरह पॉपुलर स्वयं से नहीं होता, वह बनता है, बनाया जाता है और उसे बनाए जाने की प्रक्रिया हरदम सहज हो, यह आवश्यक नहीं। हो सकता है कि चिल्लाना आज की आवश्यकता हो पर उसका संदर्भ क्या है? फिर वही प्रारूप पर सीटी बजा सकना? दूसरी ओर अगर कोई स्थानीय कलाकार इस तरह दर्शकों से खिलवाड़ करता तो उसे नौटंकी और कला का पतन मान लिया जाता। क्योंकि 'लोक' का आधा संकट तो दूसरों द्वारा तैयार की गई कसौटी पर खरा उतरने का है। अगर अति आधुनिक और लोक के दरम्यान पॉपुलर की प्रतियोगिता का दौर चल रहा है तो निश्चित ही वह क्षेत्र और यह क्षण सांस्कृतिक तनाव का है। क्या पॉपुलर की प्रवृति को एक विशेष वर्ग निर्धारित कर सकता है या इसका उत्तर लोक मानस का रहस्य है?

लोकप्रियता का संबंध लोक स्वीकृति से है। यानी वे मूल्य, छवि या व्यवहार जो समाज द्वारा स्वीकृति हों या स्वीकृति होने के कगार तक पहुंच रहे हों या जिन्हें जन मानस भीतर ही भीतर स्वीकृत कर चुका हो– मसलन भ्रष्ट नेता, रिश्वतखोरी का प्रचलन, मध्यमवर्गीय दोहरापन, मुल्ला–पंडितों का ओछापन, कामकाजी स्त्री, जो घर भी संभालती हो उसका दर्द, इत्यादि। इन सबमें विरोधाभास हो सकता है, पर पॉपुलर का स्वभाव है कि सबको समेटे। हालांकि उन मुद्दों पर एकमत होना उसके लिए अनिवार्य नहीं है। सत्ता भी यहां सामने नहीं दिखती। बाजार नहीं वस्तुओं के माध्यम से सामने आता है, रूप और स्वाद लिए, जीवन का इश्तिहार बनकर। वह कई धारणाओं को समेटता भी है। उदाहरण के लिए इमरजेंसी के बाद जन आक्रोश में झलकता 'ऐंगी यंग मैन' या सशक्त स्त्री भूमिकाओं में शबाना आजमी या स्मिता पाटिल... या कानूनी अराजकता को पुलिस को पुलिस की भूमिका पर बनी कई फिल्में... (यह बात अलग है कि हिंसा और न्याय को आम धरणा में पर्यायवाची माना जाना फासीवाद का संकेत हो सकता है।) नुक्कड़ नाटक 'पॉपुलर' के दायरे में आए और फिर सरकारी महकमों के हिस्से बन गए। फिर भी विरोध के लिए उनका प्रयोग जारी है। 'गदर' अपनी जगह कायम रहे और जन एवं लोक संस्कृति का मुहावरा बन गए। सत्ता से लड़ने का स्थान भी पॉपुलर से लिया जा सकता है। वैसे भी आक्रोश चरम सीमा पर हो तो पॉपुलर स्वयं को अलग नहीं रख पाता, भले ही वह ऐसा लोकप्रिय बनने के लिए ही क्यों न करे। 'झाड़ीपट्टी' नाट्यदल भ्रष्टाचार, अन्याय और प्रतिरोध जैसे विषयों से जूझ रहे हैं। स्वतंत्रता संग्राम के अंतिम चरण में लोक नाट्य दल भी अंग्रेजों के विरुद्ध और आजादी के पक्ष में थे। नौटंकी 'बहादुर लड़की' और सुरभि नाट्य मंडली

का 'कीचक वध' इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। दूसरी तरफ यह भी कहा जाता है कि खिलाफत आंदोलन से मतभेद होने पर पॉपुलर पारसी कंपनियों ने उर्दू का प्रयोग कम कर दिया था। यानी हर धारा, वह चाहे प्रगतिवादी या प्रतिक्रियावादी हो, सांस्कृतिक लोकप्रियता के मंथन में परोक्ष या अपरोक्ष रूप में हिस्सेदारी बनाए रखने का भरसक प्रयास करती है। पूणे नगरी में यह संघर्ष चल रहा है। शिवाजी पर लिखी सामग्री को लेकर ओरियंटल लाइब्रेरी को तहस–नहस किया गया। इस पर सांसकृतिक बहस हुई। नाट्यदलों ने उस विवाद में मंचन द्वारा हिस्सा लिया। अंधविश्वास के विरुद्ध लड़ रहे डावोलकर की हाल ही में हत्या कर दी गई। उसके बाद वह कानून पारित हो गया जिसके लिए वह संघर्ष कर रहे थे। कबीर कला मंच ने उनकी स्मृति में सांस्कृतिक कार्यक्रम किया तो उस पर धावा बोला गया।

लोक संस्कृति न मूक है, न स्थिर, वर्तमान के दर संघर्ष और गतिविधि का वह अहम स्थल है– इसलिए अथाह संभावनाओं का सागर है।

(82) 'Second Phase of Women Dircetors'

Bayen

Written & Directed by Usha Ganguly

Uchakka

और अंत में

आधुनिक भारतीय रंगमंच में स्थापित रंगनिर्देशकों का वर्गीकरण उनके रंगचिंतन के आधार पर किया जाता है। इब्राहिम अल्कांजी अपने यथार्थवादी नजरिए के लिए जाने जाते हैं तो हबीब तनवीर और ब.व. कारंत लोकरंग और रंगसंगीत के लिए। पणिक्कर अपनी शास्त्रीयता के लिए तो बादल सरकार अपने मनो–शारीरिक रंगमंच के लिए। लेकिन जब बात अनुराधा कपूर, नीलम मान सिंह चौधरी, अनामिका हक्सर, त्रिपुरारि शर्मा, माया राव, ऊषा गांगुली और कीर्ति जैन के संदर्भ में की जाती है तब वर्गीकरण, शैली या सोच के आधार पर नहीं होता बल्कि जेंडर के आधार पर सामन्यीकृत कर 'महिला निर्देशकों' के खांचे में डाल दिया जाता है।

इनमें भी नारीवादी निर्देशकों की शैली और भाषा को लेकर इस तरह की टिप्पणी की जाती है कि, 'पता नहीं इनके नाटक किस समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं?', 'इन्हें सामाजिक वास्तविकता का कुछ पता भी है?', 'करना क्या चाहती हैं?', 'इनका मकसद सिर्फ ऑडियंस को शॉक करना है', 'ये सब तो वेस्ट में बहुत पहले होकर खत्म हो गया, वहां तो चला नहीं...' वगैरह–वगैरह।

मजाकिया अंदाज में हल्के–फुल्के ढंग से की जाने वाली ये टिप्पणियां गंभीर विचार–विमर्श की मांग करती हैं।

यहां 'विवादी' के एक नाटक 'नवलक्खा' नि–अनुराधा कपूर की चर्चा करना चाहूंगी। इस नाटक के एक दृश्य में मां और बेअी दोनों गर्भवती थीं और दर्शकों की ओर पैर फैलाए प्रसव का दृश्य अभिनीत कर रही थीं।

इस प्रस्तुति के बाद इस दृश्य पर दर्शकों के एक खास वर्ग में खासी चर्चा होती रही– 'दर्शकों की ओर पीठ करके भी तो दिखाया जा सकता था', 'रंगपट्टी का इस्तेमाल हो सकता था?', 'कम से कम प्रोफाइल में ही होता...'

इन सभी टिप्पणियों के पीछे नाट्यशास्त्र की शास्त्रीय व्याख्या काम कर रही थी और इसी शास्त्रीयता की टकराहट इन महिला निर्देशकों के रंग चिंतन, उनके सौंदर्यबोध और उनके विचार की राजनीति से हो रही थी।

'Second Phase of Women Dircetors' (83)

आधुनिक भारतीय रंगमंच में अभिनय के क्षेत्र में रेखा जहैन, मोहरा सहगल, इप्टा जैसे संगठन से शुरुआत कर चुकी थीं लेकिन आधुनिक रंगमंच में निर्देशन के क्षेत्र में महिलाएं जरा देर से दाखिल हुईं। ऐसे में नाटकों में बराबरी हासिल करने और फिर अपनी मौलिक अभिव्यक्ति तक पहुंचने के सफर में महिलाओं ने काफी तेजी दिखाई, य़द्यपि पश्चिम के मुकाबले थोड़ा समय अधिक लगा।

पश्चिम में नारीवादी विचारधारा की शुरुआती झलक 17वीं और 18वीं सदी से मिलनी शुरू हो जाती है लेकिन इसकी वास्तविक शुरुआत 19वीं सदी में मानी गई है।

इस पहली धारा का संबंध पुरुषों से बराबरी का हक हासिल करना था। स्त्री–विमर्श में तेजी आई द्वितीय विश्व युद्ध की हातशा से उपजे नीत्शे के विचार से कि 'ईश्वर मर चुका है'। इस विचार ने सामाजिक, धार्मिक मूल्यों को हिला दिया। जब इन मूल्यों के केंद्र में बैठे ईश्वर की सत्ता हिली तो उससे उपजी मान्यताओं पर पुनर्विचार शुरू हुआ।

इस परिपेक्ष्य में भारत में महिला निर्देशकों की भागीदारी देखें तो पाएंगे कि हिंदुस्तानी रंगमंच में उन्हें अपनी बात कहने का अवसर आसानी से नहीं मिला। सबसे पहली चुनौती तो उनके सामने यही आई कि पुरुष वर्चस्व वाले इस खेल में उनका अपना स्थान हो, जिसे पाने के लिए उन्होंने भी उपलब्ध नाटक करने शुरू किए। उनकी रंग भाषा नाट्यप्रस्तुति के उसी व्याकरण से पनपनी लगी जो लगभग स्थापित हो चुकी थी, चाहे वह दृश्यविधान हों, बिंब या कि कथाक्रम।

जैसे–जैसे इनके काम को मान्यता मिलने लगी, वैसे–वैसे छोटी–छोटी चीजों में उनका अपना दृष्टिकोण झलकने लगा।

दीना पाठक ने अपने नाटक 'मैना गुर्जरी' में रगला के चरित्र को रंगली में तब्दील कर दिया तो शांता गांधी ने 'जसमा ओडन' के मूल आलेख में कई पन्ने जोड़ दिए और इसका अंत पूरी तरह बदल दिया। मूल नाटक में जसवा अंत में स्वर्ग चली जाती है परंतु इप्टा से जुड़ी शांता की जसमा मेहनत की जिंदगी को स्वर्ग से बड़ा सुख मानती है और पृथ्वी लोक पर ही रहने का फैसला करती है। ये छोटे–छोटे बदलाव मामूली जरूर हैं पर यह विचारधारा के आधार पर लिए गए व्यक्तिगत निर्णय हैं। इसी क्रम में विजया मेहता का काम एक अलग महत्व रखता है। ज्योतिबा फूले और इरावती कर्वे की परंपरा वाली विजय मेहता ने महाराष्ट्र में 'रंगायन' की स्थापना की जिसमें कला के विभिन्न क्षेत्रों के लोग अपनी भूमिका निभा रहे थे। 'रंगायन' की चर्चा इसलिए भी जरूरी हो जाती है

---

(84) 'Second Phase of Women Dircetors'

कि 1960 में जन्मा 'रंगायन' देश का पहला प्रयोगधर्मी दल था। हालांकि विजया मेहता के नाटकों के केंद्र में नारी विशर्म नहीं है लेकिन उनका योगदान आधुनिक भारतीय रंगमंच में महिला निर्देशकों की भूमिका को पुरुषों के बराबर निश्चित रूप से खड़ा करता है।

80 के दशक तक आते–आते कई महिला निर्देशकों के दृष्टिकोण में बदलाव दिखने लगा, नाटकों के विषय बदलने लगे। स्त्री पात्र और स्त्री विमर्श प्रमुखता पाने लगे, उनको अपने नजरिए की झलक दिखने लगी।

जब सई परांजपे अपने नाटक 'माझा खेल मांडू दे' पर की गई टिप्पणी पर प्रतिक्रिया करते हुए कहती हैं कि 'अब लोगों को ये देखना बंद कर देना चाहिए कि निर्देशक ने पैंट पहनी या साड़ी'; मैं अपनी रचना प्रक्रिया में उंन तमाम बंधनों से आजाद होना चाहती हूं जो मेरे कलाकर्म के आड़े आते हैं। चाहे वो मेरे संस्कार हों, मेरी परवरिश हो, मेरा धर्म हो या फिर मेरा जेंडर'। सई परांजपे की इस छटपटाहट ने महिला निर्देशकों के काम को बराबरी के धरातल से उठाकर अभिव्यक्ति की आजादी तक पहुंचा दिया, जहां वो चीजों को अपने नजरिए से देखने लगीं।

अमाल अल्लाना और नीलम मानसिंह का काम अपनी अलग अनुभूति लिए सामने आया। हालांकि ये दोनों उपलब्ध नाट्यलेखों का चयन करती हैं, दोनों की प्रस्तुतियों के केंद्र में स्त्री चरित्र ही होते हैं और दोनों की रंगभाषा में ब्रेख्ट के एलियेनेशन की झलक भी दिखलाई पड़ती है लेकिन दोनों की संवेदना में बड़ा अंतर देखने को मिलता है।

अमाल स्त्रीत्व और पुरुषत्व की पड़ताल करती हैं और चरित्र के इन द्विआयामी गुणों को ढूंढने का प्रयास करती हैं। उन्होंने अपनी हर प्रस्तुति में विविध प्रयोग किए, 'किंग लियर' मे एक साथ विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया, तो 'नागमंडल' में काबुकी का इस्तेमाल, 'आधे अधूरे' में मूल पाठ का एक बड़ा हिस्सा कोरस के मुंह से कहलवाया, वहीं 'हिम्मत माई' में स्त्री चरित्र के लिए पुरुष अभिनेता का चुनाव किया।

नीलम मानसिंह के नाटकों की भाषा पंजाबी है और उनकी रंगभाषा इसी पंजाबियत से पैदा हुई है। उनके नाटकों के बिंब उनके निजी जीवन से उपजे निजी संवेदना लिए होते हैं, चाहे वो 'कियन कथा' को, 'द सूट' या उनकी हालिया प्रस्तुति 'ब्लडवैंडिंग'। नीलम के यहां नक्कालों का विशेष योगदान रहता है। यहां ध्यान देने की बात ये है कि ये नक्काल पारंपरिक रूप से स्त्री वेश धरने की

परंपरा से आते हैं और पंजाबी गायकी में निपुण हैं, इसीलिए उनके नाटकों का संगीत पक्ष मजबूत रहता है। नीलम स्वयं को नारीवादी निर्देशक मानने से इनकार करती हैं परंतु बेहद रूढ़िवादी चरित्रों को लेकर पूरी ईमानदारी से उनकी रूपगत छवि तोड़ देती हैं। उनके नारीपात्र बोल्ड हैं, अपनी यौनिकता को समझते और स्वीकार करते हैं और आगे बढ़ अपने निर्णय भी लेते हैं।

अनामिका शुद्ध रूप से 'उत्तर आधुनिक रंग निर्देशक हैं। उन्होंने महाकाव्यों और उपन्यासों को प्रस्तुति का आधार बनाया। जहां एक तरफ ये चुनाव नाटककार की सत्ता को चुनौती देता है, वहीं दूसरी तरफ निर्देशक को अभिव्यक्ति की आजादी। यहां नाटककार का ढांचा अनामिका के नजरिए के आड़े नहीं आता। आलेख से प्रस्तुति तक का सफर तय करने में वे 'रचना प्रक्रिया' पर जोर देती हैं। ये रचना प्रक्रिया– प्रोडक्शन प्रोसेस उनके काम का आधार है। वे पौराणिक कथाओं और इतिहास की गहन पड़ताल करती हैं।

उनकी दो प्रस्तुतियों 'राज दर्पण' और 'हूरिया' में वे बातें उभरकर आती हैं कि वे राजनैतिक और वैचारिक रूप से प्रतिबद्ध हैं।

अनुराधा कपूर ने रचना प्रक्रिया पर जोर देते हुए प्रतीकों, बिंबों की मीमांसा और साझी अभिव्यक्ति को अपनी प्रस्तुति का आधार बनाया। 'उमराव' की रचना प्रक्रिया में कला के विभिन्न क्षेत्रों के लोग एक साथ स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका निभा रहे थे। उपन्यास का नाट्य रूप गीतांजलि श्री तैयार कर रही थीं तो संगीत पक्ष विद्या राव देख रही थीं, मंच सज्जा का काम नीलिमा शेख के जिम्मे था। अभिनेत्री उत्तरा बावकर अपने स्तर पर उमराव की तलाश कर रही थीं। सभी मिलकर उमराव के उस वास्तविक स्वरूप को खोज रही थीं जो उपन्यासकार मिर्जा हादी रुसवा के नजरिए में अंकित ही नहीं हुआ था। नाटक 'उमराव' सही मायनों में एक साझी अभिव्यक्ति था, जहां नीलिमा, विद्या, गीतांजलि और उत्तरा की मदद से अनुराधा एक नया विमर्श पैदा कर रही थीं। हादी की उमराव जहां अंत में कहती हैं 'मैं परदेवालियों के लिए दिल से दुआ मांगती हूं। खुदा उनका राज–सुहाग कायम रखे और रहती दुनिया तक उनका पर्दा रहे। जहां तक मेरी बात है, मरने के दिन करीब हैं। शायद कि ऐ हयात तुझसे तबीयत अपनी बहुत सीर हो गई।'

वहीं अनुराधा की उमराव कहती है, 'लेकिन अब तो हम करवट बदले हैं'। जहां हादी की रुसवा चुक गई है, वहीं अनुराधा कपूर की उमराव नई शुरुआत को तैयार है, संभावनाओं से भरी है।

---

(86) 'Second Phase of Women Dircetors'

अनुराधा कपूर के नाटकों में क्रॉसड्रेसिंग भी मुख्य रूप से प्रयोग में आई है। जयशंकर सुंदरी पर आधारित नाटक 'सुंदरी' में पुरुष द्वारा स्त्री वेश धरने और ब्रेख्ट की कहानी पर आधारित 'द जॉब' में स्त्री द्वारा पुरुष वेश धरने में कई समानताएं हैं। 'द जॉब' में नायिका पति की मृत्यु के बाद उसकी नौकरी के लिए पुरुष वेश धारण कर रही थी जिसके लिए वो अपने वक्ष के उभार छुपाने के लिए छाती पर चप्पल बांधती है और पतलून में एक लंबी ब्रेड और दो प्याज रखती है। झकझोरने वाला यह बिंब उस स्त्री की अवस्था की सटीक व्याख्या करता हुआ कई वर्जनाओं को तोड़ रहा था। 'नवलक्खा' का 'प्रसव दृश्य' भी उन्हीं वर्जनाओं को तोड़ रहा था। अनुराधा कपूर का विशेष जोर चरित्र के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर होते हुए उसके स्वीकृत सामाजिक सेल्फ से परे उसकी निजी आकांक्षाओं, अंतर्द्वंद्वों और अंतर्विरोधों को मुखर करने पर होता है। यही द्वंद्व और स्वप्न नए प्रतीक गढ़ते हैं। माहवारी और प्रसव जैसी रहस्य नई वर्जनाओं को तोड़ खुले में ले आते हैं। अनुराधा के नाटक में चरित्र ड्राईंग रूम से निकल घर के दूसरे हिस्सों में जाते हैं, कभी घर से बाहर निकल आते हैं तो कभी अपने ही भीतर चले जाते हैं। एक ही समय में अनेक समय और स्थान में जीते हैं।

कीर्ति जैन की प्रस्तुति 'और कितने टुकड़े' और 'बगदाद बर्निंग' भी साझी प्रक्रिया से बनी प्रस्तुतियां हैं जहां केंद्र में सिर्फ निर्देशक नहीं होता बल्कि अभिनेता, संगीतकार, लेखक, तकनीशियन सब अपने–अपने तरीके से क्रिया–प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं। कीर्ति जैन की दोनों प्रस्तुतियों में नाटक ऐपिसोडिक है और उन्होंने किसी नाट्यलेख का चुनाव न कर पुस्तक वृतांतों को अपनी प्रस्तुति के लिए चुना।

माया राव कोलकाता के अपने प्रशिक्षण का अपनी प्रस्तुति में खूब इस्तेमाल करती हैं। कथ्य को गैर पारंपरिक तरीके से अपने नाटकों में व्यक्त करती हैं। माया राव की नायिका मोटी है, भारी आवाज वाली उम्रदराज है, लेकिन ताकत में किसी से कम नहीं है। माया अपनी प्रस्तुति में आलेख के मूल विचार को इम्प्रोवाईज कर प्रस्तुति आलेख तैयार करती हैं, ऊर्जा से भरी इनकी प्रस्तुतियां पुरुष सत्ता को ललकारती सी प्रतीत होती हैं। उनके नाटकों के शीर्षक ही उनका तेवर बतला रहे होते हैं, जैसे 'खोल दो', 'द जॉब', 'कम टू मी मि. शर्मा' इत्यादि।

उत्तर आधुनिक महिला निर्देशकों में त्रिपुरारि शर्मा का काम अलग स्थान रखता है। त्रिपुरारि ने स्वयं को व्यक्त करने के लिए नाट्यालेख लिखने शुरू किए। उनके आलेख और उनकी प्रस्तुति पर राजनैतिक सामाजिक सरोकार का प्रभाव है। समाज के उपेक्षित तबके, चाहे वो मिल मजदूर हों,

झुग्गियों, गांवों में रहने वाली औरतें हों, बच्चे हों, या फिर लोक–कलाकार, त्रिपुरारि शर्मा ने देश के अलग–अलग हिस्सों में इनके बीच जा उनकी समस्याएं, सुनी समझी और उन्हें आवाज दी। उनके अभिव्यक्ति के केंद्र में सिर्फ स्त्री विमर्श नहीं, अपितु दलित–शोषित वर्ग, मजदूर और अन्य सामाजिक सरोकार भी आए।

आलेख और प्रस्तुति दोनों ही दृष्टि से त्रिपुरारि शर्मा का काम महत्वपूर्ण है। यहां नारी का दृष्टिकोण नारी की लेखनी से निकल उसके अपने बिंबों प्रतीकों के माध्यम से नाट्य प्रदर्शन में नवीन अर्थ लिए नजर आता है।

उत्तर आधुनिक नारीवादी रंगमंच पर केंद्रित इस लेख से मेरा आशय बी जयश्री, शीला भाटिया, जॉन माईकल, विभा मिश्रा, रानी बलवीर कौर, नूर फातिमा, अरूंधति नाग, पदमा वेंकट रामण (मंगई), उषा गांगुली, रेखा जैन, गुलवर्धन जैसी रंगकर्मियों के काम को किसी भी रूप में छोटा बनाने का नहीं। मैं दिल्ली की संगीता शर्मा, असम की रोबोजिता गोगोई और भागीरथी बाई, मणिपुर की तोईजम शिला और थनिलीमा, दिल्ली की भारती शर्मा, हरविंदर कौर (बबली), जुलेखा चौधरी और शैलजा की चर्चा के बगैर भीइस लेख को अपूर्ण मानती हूं, जो पूरी ऊर्जा से रंगमंच में सक्रिय हैं। ये सभी महिला निर्देशक हैं, यद्यपि ये सभी नारीवादी निर्देशक नहीं हैं।

राष्ट्रीय विद्यालय (रानावि) कुछ हद तक अपनी प्रस्तुतियों से देश के रंगमंच की दिशा निर्धारण में भूमिका निभाता रहा है, खासकर हिंदी प्रदेश– बिहार, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, मध्य प्रदेश में। पर यह ध्यान देने की बात है कि आज भी निर्देशन में पुरुष निर्देशक ही केंद्र में हैं और महिला निर्देशकों की भूमिका कम है, ऐसे में 2003 में हुए 'पूर्वा' की चर्चा प्रासंगिक हो जाती है। नटरंग प्रतिष्ठान और रानावि के प्रयास से 'पूर्वा' के विचार से साकार होने तक कीर्तिजैन का अहम योगदान रहा था।

ये भी एक कड़वा सच है कि निर्देशन में जो महिलाएं आईं या टिकी रह पाई वो वर्ग विशेष से संबद्ध हैं परंतु इससे इनका काम छोटा या बड़ा नहीं होता।

'बहुत ही इंटलेक्चुअल था' जैसी टिप्पणियां इन प्रस्तुतियों को मुख्य धारा से काट एक अलग ट्रंक में बंद रखने की राजनैतिक चेष्टा हैं।

---

(88) 'Second Phase of Women Dircetors'

उत्तर आधुनिक नारीवादी रंगमंच अपने समकालीन उत्तर आधुनिक रंगमंच से अपने 'नजरिए' के कारण विशुद्ध रूप से अलग है। जहां उत्तर आधुनिक रंगमंच चरित्रों और आलेखों को दृष्टिकोण के आधार पर डीकंस्ट्रक्ट कर रहा है, वहीं नजरिए के फर्क के कारण उत्तर आधुनिक नारीवादी रंगमंच उस ढांचे से बाहर आ उसे वास्तविक रूप से तोड़ रहा है। उस ढांचे में रहकर हो रही तोड़–फोड़ सांस्कृतिक, भाषाई राजनीति की कितनी ही पड़ताल क्यों न करे, पूरी तरह उससे मुक्त होने में मुश्किल होती है।

दलित महिलाओं के लिए चलाए जा रहे कार्यक्रम 'जनीशाला' का हिस्सा होने के कारण मैं ये समझ पाई कि सत्ता से रिश्ता, सत्ता की समझ और उसके प्रति नजरिया क्षेत्र, समूह, लिंग, जाति, भाषा, शिक्षा, आर्थिक स्थिति से बदलता रहता है। ऐसे में 'हाशिए' पर मौजूद समूह विशेष के साथ उनकी विशिष्ट समस्याओं को समझने और अभिव्यक्ति देने का रास्ता उसने सुझाया है। ऐसे में 'जेंडर' एक्सटेंशन प्रोग्राम के तहत होने वाली वर्कशॉप की संख्या बढ़नी चाहिए।